साधना और सेवा का सह-सम्बन्ध

सामान्यतया साधना व्यक्तिगत और सेवा समाजगत है। दूसरे शब्दों में साधना का सम्बन्ध व्यक्ति स्वयं से होता है, अत: वह वैयक्तिक होती है; जबकि सेवा का सम्बन्ध दूसरे व्यक्तियों से होता है, अत: उसे समाजगत कहा जाता है। इसी आधार पर कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि साधना और सेवा एक-दूसरे से निरपेक्ष हैं। इनके बीच किसी प्रकार का सह-सम्बन्ध नहीं है। किन्तु मेरी दृष्टि में साधना और सेवा को एक-दूसरे से निरपेक्ष मानना उचित नहीं है, वे एक-दूसरे की पूरक हैं, क्योंकि व्यक्ति अपने आप में केवल व्यक्ति ही नही है, वह समाज भी है। व्यक्ति के अभाव में समाज की परिकल्पना जिस प्रकार आधारहीन है, उसी प्रकार समाज के अभाव में व्यक्ति विशेष रूप में मानव का भी कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि न केवल मनुष्यों में अपितु किसी सीमा तक पशुओं में भी एक सामाजिक व्यवस्था देखी जाती है। वैज्ञानिक अध्ययनों से यह सिद्ध हो चुका है कि चीटीं और मधुमक्खी जैसे क्षुद्र प्राणियों में भी एक सामाजिक व्यवस्था होती है। अत: यह सिद्ध है कि व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं। यदि व्यक्ति और समाज परस्पर सापेक्ष हैं और उनके बीच कोई सह-सम्बन्ध है तो फिर हमें यह भी मानना होगा कि साधना और सेवा भी परस्पर सापेक्ष हैं और उनके बीच भी एक सह-सम्बन्ध है।

जैन दर्शन में व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति का चित्रण करते हुए स्पष्ट रूप से यह माना गया है कि पारस्परिक सहयोग प्राणीय प्रकृति है। इस सन्दर्भ में जैन दार्शनिक उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में एक सूत्र दिया है— परस्परोपग्रहोजीवानाम्। (५/२०) अर्थात् एक-दूसरे का हितसाधन करना प्राणियों की प्रकृति है। प्राणी-जगत् में यह एक स्वाभाविक नियम है कि वे एक-दूसरे के सहयोग या सह-सम्बन्ध के बिना जीवित नहीं रह सकते। दूसरे शब्दों में कहें तो जीवन का कार्य है— दूसरे के जीवित जीने में एक-दूसरे का सहयोगी बनना। जीवन एक-दूसरे के सहयोग से ही चलता है, अत: एक-दूसरे का सहयोग करना प्राणियों का स्वाभाविक धर्म है।

कुछ विचारकों का यह सोचना है कि व्यक्ति स्वभावत: स्वार्थी है, वह केवल अपना हित चाहता है, किन्तु यह एक भ्रान्त अवधारणा है— यदि व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं, तो हमें यह मानना होगा कि व्यक्ति के हित में ही समाज का हित और समाज के हित में ही व्यक्ति का हित समाया हुआ है। दूसरे शब्दों में सामाजिक-कल्याण और वैयक्तिक-कल्याण एक-दूसरे से पृथक् नहीं है।

यदि व्यक्ति समाज का मूलभूत घटक है तो हमें यह मानना होगा कि समाज के कल्याण में व्यक्ति का कल्याण भी निहित है। व्यक्तियों के अभाव में समाज का अस्तित्व नहीं है। समाज के नाम पर जो कुछ किया जाता है या होता है उसका सीधा लाभ तो व्यक्ति को ही होता है। जैन दर्शन की मूलभूत अवधारणा सापेक्षवाद है। उसका यह स्पष्ट चिंतन है कि व्यक्ति के बिना समाज और समाज के बिना व्यक्ति सम्भव ही नहीं है। व्यक्ति समाज की कृति है उसका निर्माण समाज की कार्यशाला में ही होता है। हमारा वैयक्तिक विकास, भाषा, सभ्यता एवं संस्कार समाज का परिणाम है। पुन: समाज भी व्यक्तियों से ही निर्मित होता है। अत: व्यक्ति और समाज में हम अंग-अंगी सम्बन्ध देखते हैं, किन्तु यह सम्बन्ध ऐसा है जिसमें एक के अभाव में दूसरे की सत्ता ही नहीं रहती है। इस समस्त चर्चा से यही सिद्ध होता है कि व्यक्ति और समाज एक-दूसरे में अनुस्यूत हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। यदि यह सत्य है तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सेवा और साधना में परस्पर सह-सम्बन्ध है। आगे इस प्रश्न पर और अधिक गम्भीरता से चर्चा करेंगे।

साधना और सेवा के इस सह-सम्बन्ध की चर्चा में सर्वप्रथम हमें यह निश्चित करना होगा कि साधना का प्रयोजन या उद्देश्य क्या है? यह तो स्पष्ट है कि साधना वह प्रक्रिया है जो साधक को साध्य से जोड़ती है। वह साध्य और साधक के बीच एक योजक कड़ी है। साधना, साधन के क्रियान्वयन की एक प्रक्रिया है। अत: बिना साध्य के उसका कोई अर्थ नहीं रह जाता है। साधना में साध्य ही प्रमुख तत्त्व है। अत: सबसे पहले हमें यह निर्धारित करना होगा कि साधना का वह साध्य क्या है? जिसके लिए साधना की जाती है। दार्शनिक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति स्वरूपत: असीम या पूर्ण है, किन्तु उसकी यह तार्किक पूर्णता किन्हीं सीमाओं में सिमट गई है। असीम होकर के भी उसने अपने को ससीम बना लिया है, जिस प्रकार मकड़ी स्वयं ही अपना जाल बुनकर उसी घेरे में सीमित हो जाती है या बन्ध जाती है, उसी प्रकार वैयक्तिक चेतना (आत्मा) भी आकांक्षाओं या ममत्व के घेरे में अपने को सीमित कर बंधन में आ जाती है। वस्तुत: सभी धर्मों और साधना-पद्धतियों का मूलभूत लक्ष्य है— व्यक्ति को ममत्व के इस संकुचित घेरे से निकालकर पुन: उसे अपनी अनन्तता या पूर्णता प्रदान करना है। दूसरे शब्दों में कहें तो सम्पूर्ण धर्मों और साधना-पद्धतियों का उद्देश्य आकांक्षा एवं ममत्व के घेरे को तोड़कर अपने को पूर्णता की दिशा में आगे ले जाना है। जिस व्यक्ति के ममत्व का घेरा जितना संकुचित या सीमित होता है वह उतना ही क्षुद्र होता है। इस ममत्व के घेरे को तोड़ने का सहजतम उपाय है— इसे अधिक से अधिक व्यापक बनाया जाए। जो व्यक्ति केवल अपने दैहिक हित-साधन का प्रयत्न या पुरुषार्थ करता है, उसे निकृष्ट कोटि का व्यक्ति कहते हैं। ऐसे व्यक्ति स्वार्थी होते हैं। किन्तु जो व्यक्ति अपनी दैहिक वासनाओं से ऊपर उठकर परिवार या समाज के कल्याण की दिशा में प्रयत्न या पुरुषार्थ करता है उसे उतना ही महान् कहा जाता है। वैयक्तिक हितों से पारिवारिक हित, पारिवारिक हितों से सामाजिक हित, सामाजिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हितों से राष्ट्रीय हित, राष्ट्रीय हितों से मानवीय हित और मानवीय हितों से प्राणी-जगत् के हित श्रेष्ठ माने जाते हैं। जो व्यक्ति इनमें उच्च, उच्चतर और उच्चतम की दिशा में जितना आगे बढ़ता है उसे उतना ही महान् कहा जाता है।

किसी व्यक्ति की महानता की कसौटी यही है कि वह कितने व्यापक हितों के लिए कार्य करता है। वही साधक श्रेष्ठतम समझा जाता है जो अपने जीवन को सम्पूर्ण प्राणी-जगत् के हित के लिए समर्पित कर देता है। इस प्रकार साधना का अर्थ हुआ लोकमंगल या विश्वमंगल के लिए अपने आप को समर्पित कर देना। साधना वैयक्तिक हितों से उपर उठकर प्राणी-जगत् के हित के लिए प्रयत्न या पुरुषार्थ करना है, तो वह सेवा से पृथक् नहीं है।

कोई भी धर्म या साधना-पद्धति ऐसी नहीं है जो व्यक्ति को अपने वैयक्तिक हितों या वैयक्तिक कल्याण तक सीमित रहने को कहती है। धर्म का अर्थ भी लोकमंगल की साधना ही है। गोस्वामी तुलसीदास ने धर्म की परिभाषा करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है—

परहित सरिस धरम नहि भाई।
पर पीड़ा समनहिंअधमाई।।

तुलसीदास जी द्वारा प्रतिपादित इसी तथ्य को प्राचीन आचार्यों ने "परोपकाराय पुण्याय, पापाय पर पीडनम्" अर्थात् परोपकार करना पुण्य या धर्म है और दूसरों को पीड़ा देना पाप है कहकर परिभाषित किया था। पुण्य-पाप या धर्म-अधर्म के बीच यदि कोई सर्वमान्य विभाजक रेखा है तो वह व्यक्ति की लोकमंगल की या परहित की भावना ही है जो दूसरों के हितों के लिए या समाज-कल्याण के लिए अपने हितों का समर्पण करना जानता है, वही नैतिक है, वही धार्मिक है और वही पुण्यात्मा है। लोकमंगल की साधना को जीवन का एक उच्च आदर्श माना गया था, यही कारण था कि भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया— "चरथ भिक्खवे चारिक्कं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय" अर्थात् हे भिक्षुओं! बहुजनों के हित के लिए और बहुजनों के सुख के लिए प्रयत्न करो। न केवल जैन धर्म, बौद्ध धर्म या हिन्दू धर्म की अपितु इस्लाम और ईसाई धर्म की भी मूलभूत शिक्षा लोकमंगल या सामाजिक हित-साधन ही रही है। इससे यही सिद्ध होता है कि सेवा और साधना दो पृथक्-पृथक् तथ्य नहीं हैं। सेवा में साधना और साधना में सेवा समाहित है। यही कारण था कि वर्तमान युग में महात्मा गांधी ने भी दरिद्रनारायण की सेवा को ही सबसे बड़ा धर्म या कर्त्तव्य कहा।

जो लोग साधना को जप, तप, पूजा, उपासना या नाम स्मरण तक सीमित मान लेते हैं, वे वस्तुत: एक भ्रान्ति में ही हैं। यह प्रश्न प्रत्येक धर्म साधना-पद्धति में उठा है कि वैयक्तिक साधना अर्थात् जप, तप, ध्यान तथा प्रभु की पूजा-उपासना और सेवा में कौन श्रेष्ठ है? जैन परम्परा में भगवान् महावीर से यह पूछा गया कि एक व्यक्ति आपकी पूजा-उपासना या नाम स्मरण में लगा हुआ है और दूसरा व्यक्ति ग्लान एवं रोगी की सेवा में लगा हुआ हैं, इनमें कौन श्रेष्ठ है? प्रत्युत्तर में भगवान महावीर ने कहा था कि जो रोगी या ग्लान की सेवा करता है, वही श्रेष्ठ है, क्योंकि वही मेरी आज्ञा का पालन करता है। इसका तात्पर्य यह है कि वैयक्तिक जप, तप, पूजा और उपासना की अपेक्षा जैन धर्म में भी संघ-सेवा को अधिक महत्त्व दिया गया है।

उसमें संघ या समाज का स्थान प्रभु से भी ऊपर है, क्योंकि तीर्थंकर भी प्रवचन के पूर्व 'नमो तित्थस्स' कह कर संघ को वंदन करता है। संघ के हितों की उपेक्षा करना सबसे बड़ा अपराध माना गया था। जब आचार्य भद्रबाहु ने अपनी ध्यान-साधना में विघ्न आयेगा, यह समझ कर अध्ययन करवाने से इन्कार किया तो संघ ने उनसे यह प्रश्न किया था कि संघहित और आपकी वैयक्तिक साधना में कौन श्रेष्ठ है? अन्ततोगत्वा उन्हें संघहित को प्राथमिकता देनी पड़ी। यही बात प्रकारान्तर से हिन्दू धर्म में भी कही गई है। उसमें कहा गया है कि वे व्यक्ति जो दूसरों की सेवा छोड़कर केवल प्रभु का नाम स्मरण करते रहते हैं, वे भगवान् के सच्चे उपासक नहीं हैं।

इस प्रकार समस्त चर्चा से यह फलित होता है कि सेवा ही सच्चा धर्म है और यही सच्ची साधना है। यही कारण है कि जैन धर्म में तप के जो विभिन्न प्रकार बताए गए हैं उनमें वैयावृत्य सेवा को एक महत्त्वपूर्ण आभ्यन्तर तप माना गया है। तप में सेवा का अन्तर्भाव यही सूचित करता है कि सेवा और साधना अभिन्न है। मात्र यही नहीं जैन परम्परा में तीर्थंकर पद, जो साधना का सर्वोच्च साध्य है, की प्राप्ति के लिए जिन १६ या २० उपायों की चर्चा की गयी है उसमें सेवा को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है।

गीता में भी लोकमंगल को भूतयज्ञ प्राणियों की सेवा का नाम देकर यज्ञों में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। इस प्रकार जो यज्ञ पहले वैयक्तिक हितों की पूर्ति के लिए किए जाते थे, उन्हें गीता ने मानव सेवा से जोड़कर एक महत्त्वपूर्ण क्रान्ति की थी।

'धर्म का अर्थ दायित्व या कर्तव्य का परिपालन भी है। कर्तव्यों या दायित्वों को दो भागों में विभाजित किया जाता है— एक वे जो स्वयं के प्रति होते हैं और दूसरे वे जो दूसरे के प्रति होते हैं। यह ठीक है कि व्यक्ति को अपने जीवन रक्षण और अस्तित्व के लिए भी कुछ करना होता है किन्तु इसके साथ-साथ ही परिवार, समाज, राष्ट्र या मानवता के प्रति भी उसके कुछ कर्तव्य होते हैं। व्यक्ति के स्वयं के प्रति जो दायित्व हैं वे ही दूसरे की दृष्टि से उसके अधिकार कहे जाते हैं और दूसरों के प्रति उसके जो दायित्व हैं वे उसके कर्तव्य कहे जाते हैं। वैसे तो अधिकार और कर्तव्य परस्पर सापेक्ष ही है। जो मेरा अधिकार है वह दूसरों के लिए मेरे प्रति कर्तव्य हैं और जो दूसरों के अधिकार हैं वे ही मेरे लिए उनके प्रति कर्तव्य हैं। दूसरों के प्रति अपने कर्तव्यों का परिपालन ही सेवा है। जब यह सेवा बिना प्रतिफल की आकांक्षा के की जाती है तो सही साधना बन जाती है। इस प्रकार सेवा और साधना अलग-अलग तथ्य नहीं रह जाते हैं। सेवा साधना हैं और साधना धर्म हैं। अत: सेवा, साधना और धर्म एक दूसरे के पर्यायवाची हैं।

सामान्यतया साधना का लक्ष्य मुक्ति माना जाता है और मुक्ति वैयक्तिक होती है। अत: कुछ विचारक सेवा और साधना में किसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार के सह-सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते हैं, उनके अनुसार वैयक्तिक मुक्ति के लिए किया गया प्रयत्न ही साधना है और ऐसी साधना का सेवा से कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु भारतीय चिन्तकों ने इस प्रकार की वैयक्तिक मुक्ति को उचित नहीं माना है।

जब तक वैयक्तिकता या 'मैं' है, अहंकार है और जब तक अहंकार है, मुक्ति सम्भव नहीं है। जब तक 'मैं' या 'मेरा' है, राग है और राग मुक्ति का बाधक है। वस्तुत: भारतीय दर्शनों में साधना का परिपाक सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि के विकास में माना गया है। गीता में कहा गया है कि जो सभी प्राणियों को आत्मा के रूप में देखता है वही सच्चे अर्थ में द्रष्टा है और वही साधक है। जब व्यक्ति के जीवन में इस आत्मवत दृष्टि का विकास होता है तो दूसरों की पीड़ा भी उसे अपनी पीड़ा लगने लगती है। इस प्रकार दु:ख कातरता को साधना की उच्चतम स्थिति माना गया है। रामकृष्ण परमहंस जैसे उच्चकोटि के साधकों के लिए यह कहा जाता है कि उन्हें दूसरे की पीड़ा अपनी पीड़ा लगती थी। जो साधक साधना की इस उच्चतम स्थिति में पहुँच जाता है और दूसरों की पीड़ा को भी अपनी पीड़ा समझने लगता है, उसके लिए वैयक्तिक मुक्ति का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। श्रीमद्भागवत् के सप्तम स्कन्ध में प्रहलाद ने स्पष्ट रूप से कहा है कि :

प्रायेण देवमुनय: स्वविमुक्तिकामा:।
मौन चरनिंतविजने न तु परार्थ निष्ठा:।
नेतान् विहाय कृपणां विमुमुक्षुरेक:।।

प्राय: कुछ मुनिगण अपनी मुक्ति के लिए वन में अपनी चर्या करते हैं और मौन धारण करते हैं, लेकिन उनमें परार्थनिष्ठा नहीं है। मैं तो दु:खीजनों को छोड़कर अकेला मुक्त होना भी नहीं चाहता हूँ।

जो व्यक्ति दूसरे प्राणियों को पीड़ा से कराहता देखकर केवल अपनी मुक्ति की कामना करता है वह निकृष्ट कोटि का है। अरे! और तो क्या स्वयं परमात्मा भी दूसरों की पीड़ाओं को दूर करने के लिए ही संसार में जन्म धारण करते हैं। हिन्दू परम्परा में जो अवतार की अवधारणा है, उसमें अवतार का उद्देश्य यही माना गया है कि वे सत्पुरुषों के परित्राण के लिए ही जन्म धारण करते हैं। जब परमात्मा भी दूसरों को दु:ख और पीड़ाओं में तड़पता देखकर उसकी पीड़ा को दूर करने के लिए अवतरित होते हैं, तो फिर केवल अपनी मुक्ति की कामना करने वाला साधक उच्चकोटि का साधक कैसे हो सकता है? बौद्ध परम्परा में आचार्य शान्तिरक्षित ने बोधिचर्यावतार में कहा है कि दूसरों को दु:ख और पीड़ाओं में तड़पते देखकर केवल अपने निर्वाह की कामना करना कहाँ तक उचित है। अरे! दूसरों के दु:खों को दूर करने में जो सुख मिलता है वह क्या कम है जो केवल स्वयं की विमुक्ति की कामना की जाए।

बौद्ध परम्परा के महायान् सम्प्रदाय में बोधिसत्व का आदर्श सभी के दु:खों की विमुक्ति होता है। वह अपने वैयक्तिक निर्वाण को भी अस्वीकार कर देता है, जब तक संसार के सभी प्राणियों के दु:ख समाप्त होकर उन्हें निर्वाण की प्राप्ति न हो। जैन परम्परा में भी तीर्थंकर को लोककल्याण का आदर्श माना गया है। उसमें कहा गया है कि समस्त लोक की पीड़ा को जानकर तीर्थंकर धर्मचक्र का प्रवर्तन करते है। यह स्पष्ट है कि कैवल्य की प्राप्ति के पश्चात् तीर्थंकर के लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता है, वे कृत-कल्प होते हैं फिर भी लोकमंगल के लिए ही वे धर्मचक्र का प्रवर्तन कर अपना शेष जीवन लोकहित में समर्पित कर देते हैं। यह भारतीय दर्शन और साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उद्गार है। इसी प्रकार बोधिसत्व भी सदैव ही दीन और दु:खीजनों को दु:ख से मुक्त कराने के लिए प्रयत्नशील बने रहने की अभिलाषा करता है और सबको मुक्त कराने के पश्चात् ही मुक्त होना चाहता है।

भवेयमुपजीव्योऽहं, यावतसर्वे न निर्वृता।[१]

वस्तुत: मोक्ष अकेला पाने की वस्तु ही नही है। इस सम्बन्ध में विनोबा भावे के उद्गार विचारणीय हैं—

जो समझता है कि मोक्ष अकेला हथियाने वस्तु है,
वह उसके हाथ से निकल आता है 'मैं' के आते,
ही मोक्ष भाग जाता है, मेरा मोक्ष यह वाक्य,
ही गलत है। 'मेरा' मिटने पर ही मोक्ष मिलता है,
अध्यात्म और विज्ञान, पृ० ७१

इसी प्रकार वास्तविक मुक्ति अहंकार से मुक्ति है। 'मैं' अथवा अहं भाव से मुक्त होने के लिए हमें अपने आपको समष्टि में, समाज में लीन कर देना होता है। आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं—

सर्वत्यागश्च निर्वाणं निर्वाणार्थ च मे मन:।
त्यक्तवयं चेन्मया सर्व वर सत्वेषु दीसतां।।[२]

इस प्रकार यह धारणा कि मोक्ष का प्रत्यय सामाजिकता का विरोधी है, गलत है। मोक्ष वस्तुत: दु:खों से मुक्ति है और मनुष्य जीवन के अधिकांश दु:ख मानवीय संवेगों के कारण ही हैं। अत: मुक्ति, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घृणा आदि के संवेगों से मुक्ति पाने में है और इस रूप में वह वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टि से उपादेय भी है। दु:ख, अहंकार एवं मानसिक क्लेशों से मुक्ति रूप में मोक्ष की उपादेयता और सार्थकता को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता है।

कुछ लोग अहिंसा की अवधारणा को स्वीकार करके भी उसकी मात्र नकारात्मक अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि अहिंसा का अर्थ दूसरों को पीड़ा नहीं देने तक ही सीमित है, जो दूसरों के दु:ख और पीड़ाओं को दूर करने का दायित्व-बोध कराने का भान कराता है। वस्तुत: व्यक्ति में जब तक दूसरों के दु:ख और पीड़ा को अपने दु:ख और पीड़ा मानकर उसके निराकरण का प्रयत्न नहीं होता है तब तक करुणा का परम विकास सम्भव नहीं है। व्यक्ति दूसरे को दु:ख और पीड़ा में तड़पता देखकर उसके निराकरण का कोई प्रयत्न नहीं करता है तो यह कहना कठिन है कि उसके हृदय में करुणा का विकास हुआ है। और जब तक करुणा का विकास नहीं होता तब तक अहिंसा का परिपालन सम्भव नहीं है।

परम कारुणिक व्यक्ति ही अहिंसक हो सकता है। जिनका हृदय दूसरों को दु:ख और पीड़ा में तड़पता देखकर भी निष्क्रिय बना रहे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे हम किस अर्थ में अहिंसक कहेंगे।

समाज को एक आंगिक संरचना माना गया है। शरीर में हम स्वाभाविक रूप से यह प्रक्रिया देखते हैं कि किसी अंग की पीड़ा को देखकर दूसरा अंग उसकी सहायता के लिए तत्काल आगे आता है। जब शरीर का कोई भी अंग दूसरे अंग की पीड़ा में निष्क्रिय नहीं रहता तो फिर हम यह कैसे कह सकते हैं कि समाज रूपी शरीर में व्यक्ति रूपी अंग दूसरे अंग की पीड़ा में निष्क्रिय बना रहे। अत: हमें यह मानकर चलना होगा कि अहिंसा मात्र नकारात्मक नहीं है, उसमें करुणा और सेवा का सकारात्मक पहलू भी है। यदि हम अहिंसा को साधना का आवश्यक अंग मानते हैं तो हमें सेवा को भी साधना के एक अंग के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा और इससे यही सिद्ध होता है कि सेवा और साधना में एक सम्बन्ध है। सेवा के अभाव में साधना सम्भव नहीं है। पुन: जहाँ सेवा है वहाँ साधना है वस्तुत: वे व्यक्ति ही महान् साधक हैं जो लोकमंगल के लिए अपने को समर्पित कर देते हैं। उनका निष्काम समपर्ण-भाव साधना का सर्वोकृष्ट रूप है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि भारतीय जीवन दर्शन की दृष्टि पूर्णतया लोकमंगल के लिए प्रयत्नशील बने रहने की है। उसकी एकमात्र मंगल कामना है—

सर्वेऽत्र सुखिन: सन्तु । सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यंतु। मा कश्चिद् दु:खमाप्नुयात्।।

लोकमंगल की उसकी सर्वोच्च भावना का प्रतिबिम्ब हमें आचार्य शान्तिदेव के शिक्षा समुच्चय नामक ग्रन्थ में मिलता है। अत: मैं उसकी हिन्दी में अनुदित निम्न पंक्तियों से अपने इस लेख का समापन करना चाहूँगा।

इस दु:खमय नरलोक में,
जितने दलित, बन्धग्रसित पीड़ित विपत्ति विलीन हैं;
जितने बहुधन्धी विवेक विहीन है।
जो कठिन भय से और दारुण शोक से अतिदी है,
वे मुक्त हो निजबन्ध से, स्वच्छन्द हो सब द्वन्द्व से,
छुटे दलन के फनद से,
हो ऐसा जग में, दु:ख से विचले न कोई,
वेदनार्थ हिले न कोई, पाप कर्म करे न कोई,
असन्मार्ग धरे न कोई,
हो सभी सुखशील, पुण्याचार धर्मव्रती,
सबका ही परम कल्याण।

सन्दर्भ :

१. बोधिचर्यावतार, संपा०- श्री परशुराम शर्मा, प्रका० मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६०, ३/२१।
२. अध्यात्म और विज्ञान, विनोबा भावे, पृ० ७१।
३. बोधिचार्यावतार, संपा०- श्री परशुराम शर्मा, प्रका०- मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६०, ३/११।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org